

संपादक

यशदेव शल्य - मुकुन्द लाठ

प्रबन्ध-संपादक

अम्बिकादत्त शर्मा

# उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का  
वैतालिक दार्शनिक घाणमासिक

वर्ष 18, अंक 1  
जनवरी, 2004



1951

1951



# काश्मीर शैव दर्शन पर आचार्य गोविन्दचन्द्र पांडे के विचार

नवजीवन रस्तोगी

भारती विद्या के क्षेत्र में इस शताब्दी के मौलिक चिन्तकों में बहु आयामी प्रतिभा के धनी प्रो. गोविन्दचन्द्र पांडे अग्रिम पंक्ति में आते हैं। भारती विद्या के लगभग सभी पक्ष—इतिहास, संस्कृति, कला, दर्शन, काव्यशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, संगीत, काव्य—उनकी सर्जनात्मक प्रखर मेधा का स्पर्श पाकर समृद्धतर हुए हैं। इस लेख में मेरा प्रयास काश्मीर शैवदर्शन से सम्बन्धित उनके विचारों का समीक्षात्मक आकलन करने का है।<sup>1</sup>

काश्मीर शैवदर्शन पर प्रकटित उनके विचारों की चार दिशाएँ मिलती हैं। एक तो मौलिक दार्शनिक संदर्भ में, दूसरे भारतीय दार्शनिक परम्परा के साथ प्राप्य अन्विति के संदर्भ में, तीसरे तांत्रिक धारा के संदर्भ में, और चौथे इस विचारधारा की प्रातिस्विक विशेषताओं के संदर्भ में। समकक्ष्य और विरोधी विचारधाराओं के साथ तुलनात्मक विश्लेषण या दर्शनेतर विधाओं में विनियोग चौथी धारा के ही उपवर्ग माने जाएंगे। विचार की इन चारों धाराओं को प्रो. पांडे की प्राच्य-पाश्चात्य ज्ञान-परम्परा में ऐतिहासिक और ऐतिहासिकोत्तर गहन अन्तर्दृष्टि का पोषण प्राप्त हुआ है जो काश्मीर शैवदर्शन विषयक हमारी समझ को निखारने में अमूल्य सिद्ध हुई है।

## मूलभूत सरोकार

काश्मीर शैवदर्शन का मूल्यांकन प्रो. पांडे 'अद्वैतवादी ईश्वरवाद'<sup>2</sup> या 'ईश्वरवादी अद्वैतवाद'<sup>3</sup> के सर्वोत्तम निदर्शन के रूप में करते हैं। देखा जाए तो यह निरूपण स्वयं काश्मीर शैवदर्शन के ईश्वराद्वैतवाद या परमेश्वराद्वयवाद या शिवाद्वैतवाद की शब्दावली में किये गए स्वोपज्ञ नामकरण की अनुगूँज है। प्रश्न है कि काश्मीर शैव दर्शन को किस रूप में देखना उचित होगा? ईश्वर-विज्ञान/धर्म-विद्या की शाखा के रूप में या दर्शन की एक विधा के रूप में? इस प्रश्न को शब्दान्तर से यों भी पूछा जा सकता है कि क्या यह एक कड़ुर मतवाद है या आगमों की युक्त्यनुकूलित तर्कपरक व्याख्या? पश्चिम के विद्वानों का बहुमत इसे ईश्वर-विज्ञान मानता है और इसे 'ईश्वर-विज्ञान', 'व्यक्तिगत ईश्वर-विज्ञान' से लेकर 'दार्शनिक ईश्वर-विज्ञान' तक के प्रकार-भेदों से निरूपित करता है। पांडे की दृष्टि भिन्न है और हमारे लिए यह बात महत्वपूर्ण है। उनका कहना है कि स्वयं ईसाई मत के मूल शास्त्र में ईश्वर-विद्या या धर्म-विद्या नहीं है। उसमें निजी अनुभूतियों की चर्चा अवश्य आयी है पर शास्त्र के रूप में यह परिनिष्ठित नहीं हुई है। ईश्वर-विद्या की प्रकल्पना को आकार और आधार मिलता है चर्च (ईसाई मत) या राज्य (इस्लाम) से। यहाँ ऐसा नहीं है; विशेषकर काश्मीर शैवमत के संदर्भ में तो बिल्कुल नहीं। श्रुति या आगम की व्याख्या और



उसके विकास-सोपानों को ईश्वर-विद्या की रुढ़िबद्धता से नहीं बाँधा जा सकता। आगमिक मीमांसा के तीन चरण हैं—(1) आगम, (2) व्याख्या और (3) तार्किक विश्लेषण (आन्वीक्षिकी)। यही स्थिति वेदान्त में भी है—(1) उपनिषद् (आगम), (2) ब्रह्मसूत्र (व्याख्या) और भाष्य (आन्वीक्षिकी)। अतः आगमिक सम्प्रदाय ईश्वर-विज्ञान नहीं है।<sup>4</sup>

पांडे की दृष्टि में काश्मीर शैव दर्शन दर्शन है। परम्परा भी यही मानती है। सोमानन्द अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ शिवदृष्टि में दर्शन के पर्याय 'दृष्टि' का प्रयोग करते हुए इसे दर्शन मानते हैं और माधवाचार्य सर्वदर्शनसंग्रह में इसे प्रत्यभिज्ञा दर्शन के नाम से संगृहीत करते हैं। तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ सोमानन्द से लेकर अभिनवगुप्त तक के दार्शनिकों का 'तर्कस्य कर्तारः' कहकर उल्लेख करते हैं।<sup>5</sup> वस्तुतः इस सम्प्रदाय को दर्शन कहा जाना पांडे की दर्शनगत इस परिभाषा से समंजस बैठता है।<sup>6</sup> उनकी दृष्टि में दर्शन एक द्वंद्वात्मक विचार-प्रक्रिया है। दर्शन सर्वदा विचारों का विमर्शन या प्रत्यालोचन है, वे चाहे युगीन हों या कालोपात। इस प्रक्रिया के तीन चरण हैं—(1) ये विचार मान्यता के रूप में समादृत हों, (2) विचारक को आत्म-मंथन के द्वारा उपलब्ध हों और (3) जिन तथ्यों पर ये आधारित हों उनका परीक्षण हों। दूसरे शब्दों में, मूल स्थापनाओं से परे जाकर उनके मूलाधारों पर संशय तथा परीक्षा। नागार्जुन, शंकर और काश्मीर शैव दर्शन के आचार्यों में इस द्वंद्वात्मक चिन्तन के दोनों पक्ष समान रूप से उपलब्ध होते हैं। वे पक्ष हैं—(1) अन्य अर्थात् परीक्षणीय पूर्वपक्ष की मान्यताओं का निर्धारण, (2) और फिर उनकी असंगतियों का उत्खनन। दर्शन का प्ररूप कोई भी हो, उसका प्रारम्भ निरपवाद रूप से किसी न किसी पूर्वमान्यता से होता है। काश्मीर शैव दर्शन अध्यात्म विद्या का एक प्ररूप है। यह जिस सत्य को मानकर प्रवृत्त होता है उसकी सिद्धि किसी युक्ति से सम्भव नहीं है। वह इस अर्थ में अप्रमेय है कि वह बुद्धि की पहुँच की सीमा से परे है। ज्ञान के इस स्रोत को ही आगम कहा गया है।<sup>7</sup>

काश्मीर शैवदर्शन की आगमोपजीव्यता के प्रसंग में पांडे की एक अन्य किन्तु सम्बद्ध मान्यता का उल्लेख आवश्यक होगा। प्रत्येक आधारभूत दार्शनिक सिद्धान्त या पूर्वस्थापना के बीज में कोई न कोई विश्व-दृष्टि या सांस्कृतिक परिदृश्य अवश्य रहता है। अधिकतर पारम्परिक दर्शनों में यह विश्वदृष्टि किसी धार्मिक परम्परा पर आश्रित रही है। भारतीय परम्परा में दर्शन दो सम्बद्ध अंगों की अन्तःक्रिया की उपज है—आन्वीक्षिकी (जिसे प्रसंगभेद से हेतु-विद्या या न्यायविद्या भी कहा गया है) और अध्यात्मविद्या। इनमें से पहले का आग्रह दर्शन के मननात्मक और यौक्तिक पक्ष पर है और दूसरे का मानवीय या अतिक्रामी विषयिता या आत्मतत्त्व पर। इस अर्थ में सांख्य, वेदान्त, बौद्ध और प्रत्यभिज्ञा—ये सभी दर्शन युगपत् आगमानुसारी और न्यायानुसारी हैं। प्रत्ययवाद की ये सारी भारतीय विधाएँ आध्यात्मिक प्रत्ययवाद की ही विधाएँ हैं, न कि बौद्धिक प्रत्ययवाद की। क्योंकि ये आनुभविक प्रदत्तों के आधार पर या प्रागनुभविक रूप से मानवीय सहज बुद्धि/विवेक को चरम ज्ञानात्मक शक्ति नहीं मानतीं बल्कि इनकी निष्ठा आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि की किसी परम्परा में बद्धमूल है और असम्भावना और विपरीत भावना का अपसारण करते हुए

परम्पराप्राप्त बोध और निज अनुभवसिद्ध उपलब्धियों के सहारे वह अपने को जानना चाहती है।<sup>9</sup> काश्मीर शैवदर्शन की दार्शनिक इयत्ता का प्रश्न भले ही देखने में क्षुद्र लगे पर मौलिक दार्शनिक मूल्यों के संदर्भ में इसका महत्त्व दूरगामी है। इतनी लम्बी चर्चा के पीछे यही औचित्य है।

### भारतीय दार्शनिक परम्परा के साथ अन्विति

समग्र भारतीय दार्शनिक परम्परा के साथ अन्विति को लेकर जब हम काश्मीर शैवदर्शन का आकलन करते हैं तो हम देखते हैं कि विश्व की अन्य धार्मिक और दार्शनिक जीवन-दृष्टियों से भारतीय परम्परा को जो बात अलग करती है वह है संस्कृति और दर्शन के मूल मन्त्र के रूप में समाई उसकी आध्यात्मिकता। उसका मुख्य बिन्दु रहा है चेतना का 'अन्तर्मुख परिशीलन'। मानसिक विकल्पों में अथवा उनके विषयों में खोए बिना अपने को, विषयी को खोजना, अनुभव-प्रवाह में आभासित आत्मिक चेतना का अनुसंधान अध्यात्म साधना का रहस्य है।<sup>10</sup> इसी की उपलब्धि मुख्य अर्थ में ज्ञान है। वसुगुप्त अपने शिवसूत्रों का प्रारम्भ ही विषयिभूत चेतन की अपेक्षा (धर्मकल्प) चेतना को आत्मा से समीकृत करते हुए करते हैं।<sup>11</sup> उनके संकेतार्थ को स्पष्ट करते हुए उत्पल देव अपनी प्रत्यभिज्ञा कारिका में घोषित करते हैं कि जो ज्ञान चिति की आत्मानुसंधानरूपी क्रिया में ही अपनी सार्थकता पाता है ऐसे ज्ञान की खोज ही मनुष्य का चरम पुरुषार्थ है।<sup>12</sup> योगसूत्र की भाषा में पांडे जहाँ इसे 'द्रष्टा का स्वरूप में अवस्थान' कहते हैं,<sup>13</sup> वहीं अभिनवगुप्त<sup>14</sup> उसी योगसूत्र का आश्रय लेते हुए इसे 'द्रष्टा की दृशमात्रतापत्ति' के रूप में प्रस्तुत करते हैं।<sup>15</sup> यही वह स्थिति है जो मनुष्य को आत्मस्थ कर सदा के लिए काम-कर्म-भोग के चक्र से मुक्त कर देती है।

पांडे का तात्कालिक सरोकार यद्यपि 'अध्यात्मविद्या और योग' से है परन्तु निष्कर्षतः वे बार-बार काश्मीर शैवदर्शन के मंतव्यों का आसूत्रण करते हैं। चेतना के इस स्वरूपावस्थान में अध्यात्मविद्या का दूसरा आयाम भी अन्तर्निहित है। पांडे के अनुसार अपनी खोज जहाँ एक ओर ज्ञान को खोज रही है वहीं दूसरी ओर अपने स्थायी अस्तित्व को भी खोज रही है—अस्मिता के साथ अस्तिता का प्रत्यय युगनद्ध है। स्थायिता की खोज का दूसरा पड़ाव है परलोक की कल्पना। कर्म और उपासना के द्वारा परलोक के साध्य माने जाने पर भी यह माना गया कि पारलौकिक गति कर्म मात्र पर आश्रित है और उतनी ही अनित्य है जितनी कि ऐहिक गति। इस अवधारणा का फल यह हुआ कि परलोक-साधनरूपी धर्म अध्यात्म-पर्येषणा के समक्ष गौण हो गया। यह माना जाने लगा कि अमरता का मनुष्य के लिए वास्तविक अर्थ स्वरूपावस्थान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसीलिए मुक्ति, कैवल्य, निर्वाण को अमृतत्व या अमृत पद कहा जाता है।<sup>16</sup> मनुष्य की लोकान्तर यात्रा, उसके हेतु, देवतत्त्व, उसकी उपासना, मृत्यु और अमृतत्व ये सभी चेतना के ही अन्तर्गत, उसी के रूपान्तर अथवा विवर्त हैं। प्रत्यभिज्ञाहृदय के प्रथम सूत्र<sup>17</sup> के प्रमाण से पांडे का मानना है कि स्वतन्त्र वस्तुओं के विश्व में चेतना कोई परतन्त्र धर्म नहीं है बल्कि



समग्र वस्तुव्यवस्था उसी से सिद्ध होती है। इसीलिए पांडे का निष्कर्ष है, चेतना के अनुसंधान रूप में आध्यात्मिकता को भारतीय संस्कृति का मूल मन्त्र कहा जाना चाहिए।<sup>18</sup>

पांडे इससे एक अन्य निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, यद्यपि शब्दशः वे यह नहीं कहते। काश्मीर शैवदर्शन का अद्वैत पूर्णतावादी है और इस व्याख्या में वह वैदिक पूर्णत्ववाद की तन्त्र-दार्शनिक प्रतिकृति है। जीवन और मृत्यु की पृष्ठभूमि में व्यक्त आकार और निराकार अव्यक्त के बीच शक्ति का अखण्ड सूत्र देख सकना ही वैदिक पूर्णत्ववाद का आधार है।<sup>19</sup> आन्तरिक और बाह्य का विरोध वैदिक ऋषियों की चेतना में नहीं पनपता। सारी विद्याओं का ब्रह्मविद्या की ओर उन्मुखन एक सहज प्रवाह का अंग है। “आरम्भ में नाना रूपधारी देवताओं में परम तत्त्व की उपासना और अन्त में एक परम तत्त्व में सभी नाम-रूपों का मूल देख सकना यह एक ही प्रक्रिया के दो छोर हैं।” इस दृष्टि में जगत् हेय या तिरस्कृत नहीं होता क्योंकि जीवन की सारी अपूर्णताओं में एक सम्पूर्णता ही प्रतिबिम्बित होती दिखाई पड़ती है।<sup>20</sup>

पूर्व उत्तर-वैदिक युग तक आते-आते आध्यात्मिक जीवन की तमाम समानान्तर परम्पराओं-आस्तिक और आस्तिकेतर दोनों-का उदय होता है और उनकी पारस्परिक अन्तःक्रिया से क्रमशः अनेक सम्प्रदाय विविध पारम्परिक सरणियों में अन्वितो को तलाशते क्षितिज पर दिखाई देते हैं। प्राचीनतम वैदिक ऋषि अविरत दिव्य सत्ता की उपस्थिति के निरन्तर अनुभव और बोध के साथ जीते दिखाई देते हैं। यह वह स्थिति है जिसकी तुलना काश्मीर शैवदर्शन में अनुपाय की स्थिति से या महायानी सिद्धों की सहज की स्थिति से की जा सकती है।<sup>21</sup> यह बात अवश्य है कि अनुपाय या सहज के रूप में वैदिक अध्यात्म चेतना का यह पुनराविर्भाव थी और इसका आविर्भाव ऋत या उसके बौद्ध संस्करण प्रज्ञा और धर्म द्वारा जन्य आध्यात्मिक दृष्टि और सांसारिक कर्म के मध्य द्वैत के अपाकरण के प्रयत्नों के फलस्वरूप हुआ। यह वस्तुतः सहज दृष्टि और अखण्ड समग्रता का मार्ग था।<sup>22</sup> पांडे की इस प्रस्तावना में एक असाधारण महत्त्व की घोषणा के बीज छिपे हैं। भारतीय दार्शनिक इतिहास में प्रश्न उठता रहा है कि तान्त्रिक धारा का उत्स क्या वैदिक धारा के उत्स से स्वतन्त्र और भिन्न है? भारतीय विद्या के अधीतियों में इस पर गहरा मतभेद है। जहाँ तक पांडे का सवाल है, उनके उपर्युक्त विवेचन से उनका झुकाव असंदिग्ध रूप से तन्त्रों में भी वैदिक धारा की अविच्छिन्नता के पक्ष में जान पड़ता है। इसीलिए उनके अनुसार काश्मीर शैव दर्शन की पूर्णता-भङ्गी को वैदिक दर्शन की पूर्णता-भङ्गी का ही तान्त्रिक प्रतिबिम्बन समझा जाना चाहिए।

इस प्रकार यह देखना सहज है कि वैदिक और श्रमण संस्कृतियों के संयोजन से भारतीय आध्यात्मिक परम्परा का निर्माण हुआ है।<sup>23</sup> इन दोनों पक्षों को समाहित करने के प्रयत्न गीता, पुराण और तन्त्रों-आध्यात्मिक धारा के अभिव्यंजक माध्यमों-में देखे जा सकते हैं। यद्यपि तन्त्रों के विपुल साहित्य और उससे भी बढ़कर उसकी विपुलतर विविधता से पांडे का अंतरंग परिचय है, तन्त्रों की सामान्य अभिधेयता उनके लिए काश्मीर शैवदर्शन

में सिमट जाती है। गीता में कर्म और अकर्म की वास्तविक एकता प्रतिपादित की गयी है और आनुष्ठानिक कर्म को कर्मयोग में और कर्मयोग को ज्ञानयोग में पर्यवसित माना गया है। पुराणों में ज्ञान को उपासना-साध्य मानकर यज्ञ के स्थानापन्न एक नये प्रकार के कर्मकाण्ड का विधान है। तन्त्रों में आन्तरिक स्वातन्त्र्य के रूप में ज्ञान और कर्म की मूल एकता का प्रतिपादन है। पुराणों में प्रतिपादित भक्ति में कर्म और संन्यास समाहित होते हैं, जबकि तन्त्रों में प्रकृति-परावर्तन के द्वारा प्रवृत्ति और निवृत्ति का सहज समाधान हो जाता है।<sup>24</sup> प्रत्ययान्तर से यही शिव-शक्ति का परिणाम या मिथुनभाव है। इस सत्य को भूलकर शक्ति को जड़ मात्र मान लेने से समस्त ऐतिहासिक सिद्धि जड़वाद को ही अर्पित हो जाती है। शिवसूत्र<sup>25</sup> को उद्धृत करते हुए पांडे का यह कथन काश्मीर शैवदर्शन का अनुवाद मात्र है कि “चेतना का अनुसंधान तब तक पूर्ण नहीं हो सकता है जब तक सृष्टि के कारण को उसकी (विषयी की) इच्छा में न देखा जाए—स ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय।”<sup>26</sup> परा विद्या या अध्यात्मविद्या आत्मा के संवेदन का विषय है, पर उसका मार्ग अन्ततः आगम, अथवा शास्त्र से विदित होता है। यदि विद्या उपलब्ध्यात्मक है और योग उसका अन्तरंग साधन, तो उपदेश होने के नाते शास्त्र विद्या एवं योग उस उपलब्धि-योग के सहायक हैं। “उपनिषद् एवं महायान सूत्र, प्रत्यभिज्ञा एवं त्रैपुर आगम, योगवासिष्ठ आदि में यह ज्ञान की परम्परा सुविस्पष्ट है।”<sup>27</sup> हम स्पष्ट देख सकते हैं और पांडे की टिप्पणियों से साफ झलकता है<sup>28</sup> कि भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक परम्परा के रूप में व्याख्या की जो शुरुआत महर्षि अरविन्द से होती है और अनुभूति एवं सिद्धान्त को सम्बन्धित करते हुए शास्त्रीय संदर्भ में उसका जो व्यवस्थित और परिष्कृत रूप कविराज जी की कृतियों में मिलता है, पांडे की मीमांसा उसी का ऐतिहासिक/दार्शनिक/अन्तर्सांस्कृतिक/मूल्यचिन्तनात्मक विश्वकोषीय विकास है और काश्मीर शिवाद्वयवाद की भारतीय संस्कृति के मूलधारों के साथ अन्विति की पराकाष्ठा का आसूत्रण उसकी सहज परिणति है।

### तान्त्रिक संदर्भ

काश्मीर शैव दर्शन की तान्त्रिकता को लेकर हम पांडे के विचारों की तीसरी कक्षा में प्रवेश करते हैं।<sup>29</sup> तन्त्रों पर वे एक व्यापक फलक पर विचार करते हैं, परन्तु दार्शनिक पक्ष पर विचार करते समय वे अनायास ही काश्मीर शैव दर्शन में प्रवेश कर जाते हैं। भारत के प्रधान दर्शनों—आस्तिक और नास्तिक दोनों धाराओं के—से काश्मीर शैव दर्शन की व्यावृत्ति का एक प्रमुख आधार उसकी तान्त्रिकता में निहित है। अभिनवगुप्त के साक्षात् विद्यागुरु लक्ष्मणगुप्त के शारदातिलक तन्त्र के प्रामाण्य से<sup>32</sup> वे परमेश्वर की प्रथम प्रसूति नाद को मन्त्र से एक मानते हैं।<sup>33</sup> अपनी बात को वे वसुगुप्त के शिवसूत्र “चित्तं मन्त्रः”<sup>34</sup> से पुष्ट करते हैं। मन्त्र विमर्श रूप है, विचार रूप है, प्रत्यय रूप है। मन्त्र का जप, अविरत पुनरावृत्ति संलग्न मानसिक प्रतिमाओं और विकल्पों से विचार को परिशुद्ध कर साधक की चेतना के रूप में व्यक्त करता है।<sup>35</sup>

वह मूलभूत सिद्धान्त जिस पर तन्त्र आश्रित है यह है कि मानवीय चेतना में एक सर्जनात्मक सार्वभौम चेतना व्याप्त है जो अन्तर्मुखन और बहिर्गमन की लय में नैसर्गिक रूप से अपने को व्यक्त करती रहती है—प्रतिश्रुति, प्रतिबिम्ब-सामान्य या अहं-विमर्श/आत्म-संवेदना की तर्ज पर। देवता-साक्षात्कार के निमित्त मानव-चेतना के लिए इस लय को पकड़कर उसके मूल तक पहुँचना आवश्यक है। परम सत्ता या ब्रह्म की परिभाषा ऐसे उत्स के रूप में की गयी है जिससे जगत् का उद्भव होता है, जिसके द्वारा यह स्थित रहता है और फिर जिसमें लीन हो जाता है। परम चेतना के रूप में ब्रह्म में इस प्रकार एक स्वाभाविक शक्ति होती है जो अपने को विकास और संकोच, उद्भव और उपसंहार के दोलाभाव से क्रमशः प्रकट करती रहती है। चित्-शक्ति की इस आत्माभिव्यंजक लयबद्धता, आत्मच्छन्दन को काश्मीर शैव दार्शनिकों ने स्फुरता या स्पन्द की संज्ञा से निरूपित किया है।<sup>36</sup> समग्र विश्व और उसका प्रत्येक अंश उस चरम ऊर्जा का स्पन्दन मात्र है और सारी विशेष ऊर्जाएँ और स्पन्दन उस चरम, सार्वभौम, सामान्य शक्ति और उसकी आत्मोद्गारिणी लय के ही प्रकार-वैचित्र्य हैं।<sup>37</sup> इच्छा, ज्ञान और क्रिया ये तीन सोपान हैं जिनके माध्यम से चित्-शक्ति अपनी सर्जनशीलता को प्रकट करती है।<sup>38</sup> यह इच्छा स्वयं में आनन्द का उच्छलन मात्र है, वह आनन्द जिससे चित्ति परिभाषित, परिचिह्नित होती है। इस प्रकार अपने को ही जानने और अपने को ही कहने, अपना अभ्युपगम करने की प्रक्रिया अनिवार्यतः रचनात्मक है। इस इच्छावादी अभिनिवेश के कारण तन्त्र बौद्ध, सांख्य और वेदान्त जैसे नितान्त ज्ञानवादी सम्प्रदायों से बिल्कुल अलग संवर्ग में खड़ा हो जाता है। फलतः तान्त्रिक साधना भी असंपृक्त साक्षी चेतना की खोज तक ही अपने को सीमित नहीं रखती अपितु विश्व मानस की लय के साथ अन्विति स्थापित करना चाहती है, क्योंकि उस परम चैतन्य के अन्दर ही साक्षित्व का कोई अर्थ हो पाता है। उस सार्वभौम चेतना के अन्दर ही साक्षित्व और स्रष्टृत्व (प्रकाश और विमर्श, शिव और शक्ति) एक ही अखण्ड सत् के क्षण मात्र हैं। मानवीय आकांक्षा का लक्ष्य विशुद्ध विषयिता या अहंता के आश्रय तक पहुँचना ही नहीं है बल्कि उस दिव्य भाव की प्राप्ति है जो उसके अस्तित्व का आन्तरिक स्रोत है।<sup>39</sup>

### स्वरूपगत वैशिष्ट्य

काश्मीर शैवदर्शन की एक आध्यात्मिक दर्शन के रूप में परिकल्पना की सहज अपेक्षा होती है कि उसकी प्रातिस्विक विशेषताओं पर विचार किया जाए। दूसरे शब्दों में, यह जाना जाए कि वह अपने को अन्य दर्शनों से कैसे व्यावृत्त करता है। उत्पल की प्रत्यभिज्ञा कारिकाओं पर अभिनवगुप्त की विमर्शिनी टीका के मंगलाचरण को पांडे सम्पूर्ण प्रत्यभिज्ञा दर्शन का सार मानते हैं।<sup>40</sup> मंगलाचरण इस प्रकार है—

निराभासात् पूर्णादहमिति पुरा भासयति यत्।

द्विशाखामाशास्ते तदनु च विभङ्क्तुं निजकलाम्।



स्वरूपादुन्मेषप्रसरणनिमेषस्थितिजुषस्

तदद्वैतं वन्दे परमशिवशक्त्यात्मनिखिलम्।<sup>41</sup>

यहाँ सम्प्रदाय का पूरी तरह से निरूपण हुआ है। सम्पूर्ण सत् परमशिव और शक्ति से एकरूप है। अपने ही स्वरूप से वह जगत् का सर्जन, धारण और संहार करता है। वह आभासों से रहित है पर 'शून्य' नहीं है। इसके अन्दर सर्वप्रथम अहंभाव का उन्मेष होता है और फिर उससे द्वैतभाव का-विषयी/विषय, शब्द/प्रत्यय, शिव/शक्ति का। सम्प्रदायेतर व्यक्ति के लिए ऐसे सत् का परिभावन कठिन है। 'निराभासात्' शून्यवाद को स्वीकार्य है और 'पूर्णात्' अद्वैत वेदान्ती को। परन्तु 'अहमिति पुरा भासयति' दोनों के लिए तिरस्कार्य है। 'अहम्' के उन्मेष की स्थिति विचित्र है-इसे बंध का उदय माना जाए या अन्त? जब तक द्वैत का उदय नहीं हुआ है अहंता शक्ति का 'स्वरूप' कैसे हो सकती है? द्वैत का उदय तो सदाशिव की स्थिति में होता है। शिव और शक्ति उसके पूर्व हैं। अनुत्तर या निराभास शिव और शक्ति, प्रकाश और विमर्श का सामरस्य कब बनता है?<sup>42</sup>

इस सम्प्रदाय में परम सत्, जिसे परम शिव, महेश्वर या अनुत्तर कहा गया है, चेतना या संविद्-रूप है। इसकी दृष्टि इस अर्थ में घोर प्रत्ययवादी है कि चेतना के विषय भी चेतनारूप हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे भ्रान्त या असत् हैं। वे चेतना की अपूर्ण या सीमित आत्माभिव्यक्ति हैं और उन्हें पारिभाषिक तौर पर 'आभास' (= अपूर्ण भास) कहा गया है। स्वयं वह चेतना अखण्ड, सार्वभौम, कालातीत होने पर भी स्वरूपतः सर्जनात्मक और गतिमय है। इसके दो अविभजनीय घटक हैं-प्रकाश और विमर्श। प्रथम पक्ष में यह चेतना अपने अन्तर्विषय का प्रकाशन या साक्षात्करण है और दूसरे में अपना ही परामर्शन या अभिधान। अंग्रेजी रूपान्तर की खोज में पांडे का विमर्श के लिए 'सेल्फ अफर्मेशन' शब्द बड़ा सटीक है। चेतना की यह अवधारणा सांख्य की तद्गत धारणा से भिन्न है जहाँ पुरुष केवल देख सकता है (साक्षी) और प्रकृति केवल क्रिया कर सकती है (परिणामी)। यह वेदान्त से भी भिन्न है जहाँ ब्रह्म (साक्षिचैतन्य) देखता तो है पर देखने के लिए उसका कोई 'अन्तर्विषय' नहीं है (अधिष्ठानचैतन्य)। यहाँ संवित् स्वरूपतः अहंचेतना या आत्म-चैतन्य है और निस्सीमतः सर्जनात्मक है, और सृष्टि और कुछ न होकर आत्म-विमर्शन मात्र है। यही वस्तुतः अहंपरामर्श या चेतना का अहंभाव है।<sup>44</sup>

आत्मा, ब्रह्म या परमशिव और चैतन्य इनमें केवल नाम का अन्तर है। 'तत् त्वमसि'-इस उपनिषद्-वाक्य ने जब से मानवीय या व्यष्टि-आत्मा की सर्वोच्च समष्टि सत् से एकता प्रतिपादित की आत्मा का प्रत्यय भारतीय दर्शन का सबसे केन्द्रीय और चुनौती भरा प्रत्यय रहा है। आत्मा को घेरने वाले विवाद का स्वरूप भी तत्त्वतः पारतात्त्विक/तत्त्वमीमांसीय रहा है। आत्मा क्या विशिष्ट सत् है, क्या इसकी सत्ता द्रव्यात्मक है या अतिक्रामी, और क्या यह वैयक्तिक है या वैश्विक? ये वे तीन प्रश्न हैं जिन पर भारत के दार्शनिक विचारक अपनी स्थिति को परिभाषित करते रहे हैं।<sup>45</sup> काश्मीर शैवदर्शन की दृष्टि में आत्मा सत् है, सार्वभौम है, अतिक्रामी है और फिर भी व्यष्टि-सत् को अपने में और

अपने से भासित करने के कारण उससे एकरूप है। धर्मी और धर्म, द्रव्य और गुण आदि का प्रश्न या तो अप्रासंगिक कहा जा सकता है या औपचारिक, क्योंकि आत्मा (द्रव्य/धर्मी) और चैतन्य (भाव/धर्म/गुण) दोनों अविच्छिन्न और एक हैं। फिर भी यदि इतनी ही अनिवार्यता हो तो उसे धर्मी, प्रमाता या कर्त्ता की श्रेणी में रखना होगा।<sup>46</sup> किन्तु वह ऐसा कर्त्ता होगा जो कर्तृत्व का आश्रय न होकर तद्रूप होगा। मानवीय आत्मा का स्वरूप चिद्रूप या ज्ञानात्मक मानने पर उस ज्ञान को क्या तार्किक या विचारात्मक कहा जा सकता है, यह प्रश्न आवश्यक रूप से उपस्थित होता है।<sup>47</sup> समस्त भारतीय परम्परा में, जो आत्मा को ज्ञानस्वरूप मानते हैं वे भी उस ज्ञान को अध्यवसायात्मक या बौद्धिक-क्रियात्मक नहीं मानते। शंकर के लिए यह ज्ञान निर्गुण और निर्विशेष है। भर्तृहरि में समस्त प्रत्यय शब्दानुविद्ध होने पर भी शब्द का मूल रूप पश्यन्ती वाक् है जो कि एक प्रकार से प्रातिभ ज्ञान का दूसरा नाम है। काश्मीर शैवदर्शन में प्रकाश के सविमर्श होते हुए भी<sup>48</sup> विमर्श और बौद्धिक विकल्प एक नहीं हैं। प्रकाश यदि संवित् या ज्ञान है तो विमर्श उसी की क्रियाशीलता।<sup>49</sup> चेतना की प्रत्येक क्रिया में, प्रत्येक अवस्था में शिव का ही ज्ञान होता है—जानते हुए, इच्छा करते हुए, क्रिया करते हुए, स्मरण करते हुए, जो नहीं ज्ञात होता है वह है उसकी महिमा, ज्ञान, चैतन्य, उसका वास्तविक स्वरूप है। यह जानना ही वास्तविक प्रत्यभिज्ञा है—

*तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्*

*तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥*<sup>50</sup>

काश्मीर शैवदर्शन की आध्यात्मिक साधना में<sup>51</sup> साध्य भूमिका (अविकल्पात्मिका संवित्=महेश्वर) और साधन भूमिका (भेद-भेदाभेद-अभेदमय संस्करणीय विकल्प-शुद्धविकल्प-अविकल्प ज्ञानरूप उपाय) में कोई अन्तर नहीं है। शिव को शक्ति के परिप्रेक्ष्य में शक्तिमान् कहा जाता है—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया उसकी शक्तियाँ हैं। उपाय में शिव की ये सारी विशेषताएँ हैं। शाम्भव उपाय में इच्छा, शक्त में ज्ञान और आणव में क्रियाशक्ति का ही प्रस्फुटन होता है। इसलिए उपाय उपेय से अतिरिक्त नहीं है—“उपायजालं न शिवं प्रकाशयेद्, घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः।”<sup>52</sup> आप अपने स्वरूप पर जितना ही मनन करते हैं उससे आप का स्वरूप उतना ही स्फुट होता जाता है।<sup>53</sup>

इस सम्प्रदाय के अनुसार विश्वात्मा अपने को ही आधार बनाकर अपने अन्दर स्थित विश्व को प्रकट करता है।<sup>54</sup> आभासित विश्व का परम तत्त्व से वही सम्बन्ध है जो दर्पण में प्रतिबिम्बित बिम्ब का दर्पण से। अर्थात् आभासित विश्व की परम तत्त्व से एकता वास्तविक है और भेद प्रतीतिगत है।<sup>55</sup> अभिव्यक्ति के आधार रूप में अवस्थित परमतत्त्व का पक्ष प्रकाश और उस अभिव्यक्ति की शक्ति को विमर्श कहा जाता है। आभास या आभासित जगत् का विश्वचेतना से क्या सम्बन्ध है? उत्तर है, अभेद सम्बन्ध। क्योंकि यह चेतना बिम्बों की आधारभूमि भी है और उनकी ग्राहिका भी। इस प्रकार इस दर्शन में शिव से लेकर पृथ्वी तक के सारे तत्त्व परम तत्त्व में उसी प्रकार स्थित हैं जैसे विचार हमारी

आत्मा में। बाह्य उपादान की अपेक्षा के बिना चित् तत्त्व की इच्छा से इन्हें बहिर्वत् भासित किया जाता है।<sup>56</sup> विश्वात्मा के द्वारा व्यक्त किये जाने के कारण (आभास्यते) और आभासित (आभासते) होने के कारण इसे आभास कहा जाता है।

इस संदर्भ में शैव चिन्तक पाश्चात्य मत का अनुसरण करते हुए सृष्टि के दो स्तरों की चर्चा करते हैं—शुद्ध और अशुद्ध। इन्हें क्रमशः शुद्ध अध्वा और अशुद्ध अध्वा भी कहा जाता है। दो प्रकार की सृष्टियाँ क्यों? इसके दो उत्तर दिये जाते हैं। दोनों समाधान दार्शनिक भङ्गिमा लिये हुए हैं। यदि ईश्वर स्रष्टा है और आप्तकाम है (आप्तकामस्य का स्पृहा) तो सृष्टि में कर्म, नैर्घृण्य की कोई भूमिका नहीं रह जाती। यदि जगत् की रचना में कर्म की अपेक्षा बनी रहती है तो ईश्वर अनावश्यक हो जाता है। समाधान में शैव शुद्ध, अक्रम, कालरहित सृष्टि की बात करते हैं। कर्म-सृष्टि अशुद्ध सृष्टि है जिसका सम्बन्ध अज्ञानग्रस्त जीव से है। यह ईश्वर की साक्षात् सृष्टि न होकर उसके द्वारा नियुक्त शुद्ध प्रमाताओं के माध्यम से उपात्त सृष्टि है। दूसरा उत्तर है कि जब ईश्वर इच्छा करता है तब उसका अंतःस्थ विचार प्रकट हो जाता है, पर उसका चिदात्मा ईश्वर से अभेद बना रहता है। यह सृष्टि की शुद्धावस्था है—शिव से लेकर शुद्ध विद्या तक।<sup>57</sup> परम शिव निराभास है, पर पूर्ण है। उससे सृष्टि का आरम्भ होता है। पहला आरम्भ अहं का है (निराभासात् पूर्णादहमिति यत्)। तत्त्वों की भाषा में यह शिव और शक्ति तत्त्व की स्थिति है। वेद्य-वेदक भाव से विभाजन होने के कारण सदाशिव-भूमि का उन्मेष होता है—अहमिदम्। यह विकल्प प्रत्यक्ष में होने वाली अस्फुट प्रतीति से तुलनीय है। यह शुद्ध इच्छागत अस्फुट प्रतीति है। यही प्रतिभा है,<sup>58</sup> इसे ही पश्यन्ती कहते हैं। इसकी इच्छा मात्र से इच्छाविषय (इदं) सिद्ध हो जाता है, यही चिदात्मा देव की सनातन सृष्टि है। अन्तःस्फुरित को जब वह फिर क्रियान्वित करता है तब ईश्वर तत्त्व का उद्रेक होता है—इदमहम्। और क्रिया से स्फुटित अहंता और इदन्ता बराबर का वजन रखने पर भी प्रमाता के अधिकरण पर बने रहते हैं। यह स्थिति है शुद्ध विद्या की। जब ईश्वर क्रिया के रूप में व्यक्त करना चाहता है—प्रमाता के बाहर, तब ईश्वर शुद्ध सृष्टि से बाहर आता है। जब तक परम शिव/ईश्वर अपने को प्रमाता के रूप में सीमित नहीं करेगा तब तक हमारा परिचित विश्व, व्यवहार-जगत्, आरम्भ नहीं होगा, जिसमें अपोहन-शक्ति के कारण विषय पृथक्-पृथक् हैं। पांडे की दृष्टि में इसे ही आणव मल कहते हैं।<sup>59</sup>

पांडे का यह मन्तव्य युक्त है कि काश्मीर शैव-दर्शन वेदान्त, बौद्धदर्शन और भर्तृहरि जैसे अद्वैतवादी दर्शनों की प्रत्यालोचना द्वारा अपने को एक युक्त्याश्रयी दर्शन के रूप में स्थापित करता है।<sup>60</sup> प्रत्यभिज्ञा दर्शन सांख्य दर्शन की प्रक्रिया और तत्त्व-मीमांसा को एक घटक के रूप में स्वीकार करता है पर इसके द्वैतवाद का तिरस्कार करता है। ऐसा करने में वह प्रायः अद्वैत वेदान्त की ही प्रक्रिया का आश्रय लेता है। पांडे का मत है कि उपनिषद् और ब्रह्मसूत्रों में पाये जाने वाले प्राचीन वेदान्त की काश्मीर शैव ईश्वराद्वैत से अत्यन्त निकटता के कारण अद्वैत वेदान्त की उतनी अधिक विवेचना यहाँ नहीं मिलती जितनी सांख्य की। यह बात भी सही है कि काश्मीर शैव अद्वयवाद को समझने के लिए वेदान्त की



समीक्षा द्वारा वहाँ पहुँचना बेहतर होता,<sup>61</sup> फिर भी चूँकि दोनों ही परम्पराएँ अपनी-अपनी आध्यात्मिक या आगम परम्परा पर निर्भर हैं, अर्थात् आगमानुसारी हैं, अतः इस पद्धति की बहुत उपयोगिता नहीं रह जाती।<sup>62</sup> मजे की बात यह है कि पांडे के इस विचार को अभिनव का समर्थन मिलता है।<sup>63</sup> हाँ, यह कहना उचित होगा कि वेदान्त भी अद्वैत या ब्रह्माद्वैत तक द्वंद्वात्मक चिन्तन के द्वारा ही पहुँचता है। व्यवहार-बुद्धि की शपथ लेने वाले नैयायिकों ('संविदेव भगवती नः शरणम्'—हर पदार्थ की सत्ता का प्रमाण हमारी प्रतीति है) की सत् की अवधारणा में द्वंद्वात्मक कठिनाइयों की पकड़ उन्हें अद्वैत तक ले जाती है।<sup>64</sup> इन निष्कर्षों में वे प्रधानतया श्रुति और आवश्यक स्थलों पर तर्क की सहायता लेते हैं। हाँ, इस द्वंद्वात्मक चिन्तन पर महायान के प्रभाव के कारण गौडपाद और शंकर उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र के गतिशील और सर्जनात्मक परमतत्त्व का परित्याग कर माया की शरण लेते हैं, जबकि प्रत्यभिज्ञा के लिए चेतना का सार उसका विमर्श या क्रिया है। महायान और शंकर के लिए सारी क्रिया विक्रिया है, अतः कालातीत सत् में उसका प्रवेश वर्जित है। प्रत्यभिज्ञा के लिए जो भी नित्य है, शाश्वत है, वह अपने को निर्मित क्रिया में अभिव्यक्त करता रहता है।<sup>65</sup> अभिनवगुप्त<sup>66</sup> और क्षेमराज<sup>67</sup> उन दर्शनों से अपने दर्शन के इस भेद को रेखांकित करते हैं।

बौद्धों की कठोर तर्क-प्रणाली और निर्मम आलोचना ने प्रत्यभिज्ञा को युक्ति और अनुमान का सहारा लेने के लिए विवश किया। अभिनवगुप्त बौद्धों को प्रधान प्रतिपक्षी मानते हैं, क्योंकि उनका विश्वास आत्मा की सत्ता में ही नहीं है।<sup>68</sup> चूँकि बौद्धों और काश्मीर शैव दार्शनिकों में प्रत्यक्ष संघर्ष नहीं हुआ इसलिए बौद्धों से उनकी लड़ाई द्विमुखी हो जाती है। एक ओर वे बौद्धों की मान्यताओं की परीक्षा करते हैं तो दूसरी ओर ईश्वर और आत्मा की अवधारणाओं और उनके प्रामाण्य में प्रयुक्त न्याय की अवधारणात्मक और तार्किक युक्तियों पर किये गये बौद्धों के प्रहार में असंगतियाँ और दुर्बलताएँ खोजते हैं। ऐसे में जैसे वेदान्तियों को व्यवहार में भाट्ट मत मान्य नज़र आया था (व्यवहारे भाट्टनयः), शैवाचार्य न्याय दर्शन को व्यवहार में उपयुक्त पाते हैं।<sup>69</sup> सच देखा जाए तो सत् की संघटना में मन या चित्त की केन्द्रीयता बौद्ध न्याय का प्राण है और नैयायिक के सद्वाद की तुलना में प्रत्यभिज्ञा के अधिक निकट है। नैयायिकों के असत्कार्यवाद और ईश्वर की निमित्तकारणतावाद की आलोचना में उत्पल और सोमानन्द किसी भी प्रकार की उदारता नहीं दिखाते, इसलिए व्यवहार में प्रत्यभिज्ञावादियों द्वारा न्याय के प्रति प्रदर्शित इस सौजन्य की महत्ता कहीं अधिक दूरगामी प्रतीत होती है। न्याय के अनुमानगत पंचावयवत्व को स्वीकार करते हुए पूरी ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका को परार्थानुमान के रूप में प्रस्तुत करना और क्रिया, सम्बन्ध, सामान्य आदि अवधारणाओं को व्यावहारिक रूप से सत्य और कार्यकारी मानना लोक जीवन में नैयायिक मन्तव्यों की पारमार्थिकता को स्वीकार करना है।<sup>70</sup> इसका यह भी अर्थ है कि वे सत्—जैसे क्रिया, सम्बन्ध, सामान्य आदि—जो बौद्धों के

द्वारा युक्ति-परीक्षा में उपपन्न नहीं हो पाते और फिर भी व्यवहार में अनिवार्य हैं, शैव दर्शन में स्वीकार्य हो जाते हैं।<sup>71</sup>

जैसा कि हमने देखा, बौद्ध प्रधान विपक्ष की भूमिका निभाते हैं। बौद्ध दर्शन प्रारम्भ में आगमनानुसारी होने पर भी धीरे-धीरे आगम के प्रामाण्य से हटने लगता है। महायान में युक्त्युपपन्नता आगम की वैधता की कसौटी बनती है और वसुबन्धु के बाद बौद्धों के लिए केवल दो ही प्रमाण रह जाते हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। इस प्रकार धर्मकीर्ति और शान्तरक्षित के सम्प्रदायों के लिए आगम अपनी प्रयोजनीयता खो बैठते हैं और यही दोनों सम्प्रदाय प्रत्यभिज्ञा के लिए प्रतिनिधि पूर्वपक्ष की भूमिका निभाते हैं। यहाँ इस ओर ध्यान दिलाना उचित होगा कि चूँकि भर्तृहरि का सम्प्रदाय बौद्धों के लिए एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पूर्वपक्ष है, वह भी शैव दार्शनिकों के लिए मानक पूर्वपक्ष बनकर उभरता है।<sup>72</sup>

पांडे बौद्ध दर्शन और प्रत्यभिज्ञा के मध्य वैचारिक संघर्ष का सविस्तर गम्भीर विवेचन करते हैं।<sup>73</sup> हम यहाँ उनकी मूल स्थापनाओं का ही आकलन करेंगे। दोनों दर्शन नितान्त विरोधी पूर्वस्थापनाओं को लेकर चल रहे हैं। एक ओर घटना निर्वेयक्तिक धर्मों का संसार है और दूसरी ओर अहं-चेतना की क्रियाशीलता से अनुप्राणित विश्व। एक ओर आत्मा, ईश्वर, विषयी और विषय की स्थायिता है तो दूसरी ओर अनात्मवाद, ईश्वर का अनस्तित्व, विषयी और विषय की अस्थायिता या क्षणिकता। बौद्धों का सत् का सिद्धान्त आत्यन्तिक रूप से द्वंद्वात्मक है और वही स्थिति काश्मीर शैव दार्शनिकों की भी है। बौद्धों के लिए सत् की पहचान उसके अर्थक्रियाकारित्व से है। वहाँ न किसी अवयवी की सत्ता है, न द्रव्य की और न ही अर्थक्रिया के अतिरिक्त किसी धर्म की।<sup>74</sup> बौद्धों के इस सिद्धान्त का उद्भव सांख्य, न्याय और वेदान्त आदि सम्प्रदायों के मतों की पृष्ठभूमि में हुआ था। बौद्धों के परिवर्तन के सिद्धान्त का जन्म सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद और विवर्तवाद के अस्वीकार से होता है। कार्यकारण-भाव यदि है तो उसका रूप है प्रतीत्यसमुत्पाद, अर्थात् कारणता घटनाओं का केवल व्यवस्थित क्रममात्र है। कोई चीज़ किसी को न उत्पन्न करती है और न किसी से उत्पन्न होती है। घटनाओं में न परस्परिक अन्तःक्रिया है और न सातत्य। सापेक्ष होने के कारण प्रत्येक घटना परतन्त्र है। सदृश कूटस्थ क्षणों के प्रवाह में गति या स्थिरता का प्रत्यय भ्रम मात्र है। व्यावहारिक पदार्थ या स्थिरता सत् पर आरोपित विकल्प मात्र है।<sup>75</sup>

जैसा कि हम देख चुके हैं, शैव आलोचना व्यवहार-बुद्धि (न्याय) से प्रारम्भ करती है पर नितान्त भिन्न तत्त्वमीमांसीय निष्कर्षों पर पहुँचती है। सम्प्रदाय के प्रथम दार्शनिक ग्रन्थ शिवदृष्टि में सोमानन्द का तर्क है कि 'अहं जानामि', 'सः जानाति' जैसे ज्ञानों को एक क्षण से अधिक की अपेक्षा होती है। सोमानन्द का दूसरा तर्क है कि क्षणिकता के कारण प्रमाता की अस्थायिता से कर्म-सिद्धान्त का अपलाप होता है। सोमानन्द के इस तर्क में नयी बात नहीं है। पर सोमानन्द की तीसरी आपत्ति दार्शनिक रूप में विशेष महत्व की है। वह यह कि विज्ञान, ज्ञान के रूप (विद्यारूप) में, नित्य है, अनित्य नहीं। यह दूसरी बात है कि स्वयं बौद्ध प्रज्ञप्ति और असंस्कृत धर्मों को नित्य मानते हैं। पर उनके लिए सामान्यतः



व्यावहारिक या आनुभविक ज्ञानों की कालिकता संवृतिमात्र है। सोमानन्द के अनुसार प्रत्यक्ष और प्रत्यभिज्ञान आदि प्रमाण भी क्षणिकता का निषेध करते हैं। हम प्रत्यभिज्ञान उसी वस्तु का करते हैं जो एक क्षण से अधिक रहती है और/या तब तक प्रत्यक्ष करते हैं जब तक उस ज्ञान का बाध नहीं होता। अपने उत्तर में बौद्ध प्रत्यभिज्ञा या सविकल्प प्रत्यक्ष (विकल्प) को सादृश्य से होने वाला भ्रम मानते हैं।<sup>76</sup>

पांडे का कहना है कि दोनों पक्षों के तर्क सत् की भिन्न अवधारणाओं पर आश्रित हैं। शैव तर्कों का व्यावहारिक पदार्थों से जो सम्बन्ध है वह स्थूल स्तर पर है जबकि बौद्ध तर्कों का सत् के सूक्ष्म स्तर से। बौद्धों के लिए इन्द्रिय-प्रदत्त का पर्याय स्वलक्षण वस्तुसत् है, न कि सामान्यलक्षण, संघात या संतान। कारणता घटित होती है स्वलक्षण, अर्थात् सूक्ष्म, स्तर पर। बौद्धों का कहना है कि एक क्षण, सम्नात्र, बीत कर, नष्ट होकर ही घटित या कार्यकारी हो सकता है।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में बौद्धमत की प्रत्यालोचना और भी गहरे स्तर पर होती है। कोई भी अचेतन पदार्थ घटित या क्रियाशील नहीं हो सकता जब तक उसे चेतन कर्त्ता या प्रेरक से प्रेरणा न मिले। इसलिए सारी क्रिया अन्ततः इच्छा का प्रकटन या अभिव्यक्ति मात्र है। सत्त्व या सत्ता का प्राण है उसका चेतना या संवित् में प्रकाशित होना, न कि किसी कार्य या अर्थक्रिया का निष्पादन करना। जहाँ तक प्रतीत्यसमुत्पाद का प्रश्न है, वह कार्य-कारण की परस्पर सापेक्षता को रेखांकित करता है और कारणता-सम्बन्ध को आवश्यक क्रम से एकाकार मानता है। अब शैव के लिए अपेक्षा-सम्बन्ध दो चित्तत्त्वों के मध्य ही सम्भव है, और यदि कारणता एक आवश्यक क्रम है तो शैवों का प्रश्न है कि यह क्रम सम्बन्धियों से एकरूप है या उनसे भिन्न है? यदि पहला, तो कारणता असम्भव है और यदि दूसरा, तो यह कारणात्मक शक्ति होगी इच्छा। क्योंकि आवश्यकता/अनिवार्यता का उदय केवल इच्छा में ही सम्भव है।<sup>77</sup>

कारणता-सम्बन्ध या नियत क्रम की चर्चा से सम्बन्धों के स्वरूप को लेकर ज्यादा व्यापक प्रश्न पैदा होता है। यहाँ बौद्ध अवधारणा फिर द्वंद्वात्मक है। एक ओर स्वलक्षण की अर्थक्रियाकारिता की शब्दावली में एक क्षण के रूप में अवधारणा की जाती है तो दूसरी ओर द्रव्य, गुण, क्रिया, सामान्य की भाँति सम्बन्धों की परिकल्पना भी विकल्प के रूप में होती है। इस प्रकार यह अनादि विकल्प एक प्रागनुभविक आदिसिद्ध प्रत्यय होगा जो सामान्य लक्षण पर लागू होगा स्वलक्षण पर नहीं। यह ध्यान देने की बात है कि सम्बन्ध और अन्य धारणाओं का शैव बचाव भी स्वयं में भेद में व्याप्त अभेद की द्वंद्वात्मक पूर्वमान्यता पर आश्रित है। सृष्टि का अर्थ है विभेदीकरण, जो स्रष्टा-अन्तर्यामी और अतिक्रामी-के एकत्व का निराकरण करने में असमर्थ है। शैव और बौद्ध दोनों इस बात में सहमत हैं कि विकल्प-योजना जहाँ साक्षात्कारी चित्/विज्ञान का काम है वहीं विभेदीकरण का स्रोत है दृश्यमान जगत्। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि शैव विकल्पों को दृश्य जगत् को स्फुट करने वालों के रूप में देखते हैं, भ्रान्ति-जनक के रूप में नहीं।<sup>78</sup> ऐसा इसलिए है



क्योंकि अनुभव-जगत् या आभासित विश्व की नियामिका इच्छा उस ईश्वर की इच्छा है जो सारे अनुभव में अन्तर्व्याप्त अहं-चेतना से अभिन्न है। इसमें यह भी अन्तर्निहित है कि यद्यपि अनुभव के विषय और प्रमाता स्वरूपतः चिद्रूप हैं, वे माया, ईश्वर की तिरोधानकरी शक्ति, के आवरण के कारण अपने वास्तविक स्वरूप-शिवरूप-में भासित नहीं होते। इससे शैवों की बौद्धों से समता इस अर्थ में फिर उजागर होती है कि अनादि माया अनुभव के हमारे रोजमर्रा के विश्व को सत्य के आवरण के रूप में (संवृति) जन्म देती है। पर अन्तर यह है कि शैव दार्शनिक जहाँ अहं-चेतना में अपने अस्तित्व के मूल और अहं-चेतना की सार्वभौमता, नित्यता और अपरिच्छिन्नता के आविष्करण के लिए अनुभव का विश्लेषण करता है वहाँ बौद्ध दार्शनिक अनुभव का विश्लेषण चित्त की भ्रान्त करने वाली शक्ति के रूप में या आनुभविक सत्ता के नैरात्म्य, उसकी सत्त्वहीनता प्रदर्शित करने के लिए करता है। शैव दार्शनिक जबकि अपनी परिच्छिन्न आत्म-चेतना का विस्तार करना चाहता है ताकि वह अनवच्छिन्न दिव्य चेतना का स्पर्श कर सके, बौद्ध दार्शनिक अपनी सीमित आत्म चेतना से पीछे हटना चाहता है ताकि अनभिलाष्य, अतीन्द्रिय या अतिक्रामी तत्त्व को पा सके।

किसी अर्थ में प्रत्यभिज्ञा और बौद्ध दोनों प्रत्ययवादी दर्शन हैं और दोनों में कतिपय आधारभूत समानताएँ हैं। प्रत्यभिज्ञा के लिए जड़ और बाह्यता मायिक विश्व के भीतर की साधारण घटना या अवभासन है। जहाँ तक वे शिव की शक्ति से जन्म लेते हैं वे सत् हैं, पर उनकी सत्ता माया से तिरोहित रहती है। योगाचार के लिए भी सत् का स्वभाव है शुद्ध, अपरिच्छिन्न<sup>79</sup> और कालातीत चैतन्य, जिसकी 'शिवतत्त्व'<sup>80</sup> से तुलना की जा सकती है। अविद्या परम सत् पर द्वैधीकरण को रोपती है। दोनों के लिए प्रत्यक्ष और अनुमान से प्राप्त व्यवहार-जगत् के पदार्थ अपने व्यावहारिक रूप में सत् हैं, यद्यपि दोनों के लिए वे अतीन्द्रिय अज्ञान से आवृत हैं और उनके वास्तविक स्वरूप के उन्मेष के लिए उस अज्ञान का भेदन अनिवार्य है। दोनों के लिए वे चेतना के विषय हैं। अन्तर यह है कि प्रत्यभिज्ञा के लिए विश्व-प्रमाता या आत्म-चेतना प्रत्येक सीमित पदार्थ और ज्ञानात्मक क्रिया में अन्तर्व्याप्त है और यह सिद्धान्त उसे आत्मसंकुलतावाद (सोलिप्सिज्म) और मनोविज्ञानवाद दोनों की कठिनाइयों से बचा लेता है। अहं-चेतना उसी प्रकार से अतिक्रामी तत्त्व है जैसे विज्ञप्तिमात्रता। बौद्धों के आवरण, अविद्या और वासना आदि प्रत्यय शैवों के मल के प्रत्यय से सहज ही तुलनीय हो जाते हैं।

इस बात को दुहराना उचित होगा कि जहाँ प्रत्यभिज्ञा के लिए सत्ता की परिभाषा प्रकाशमानत्व है, बौद्धमत के लिए यह अर्थक्रियाकारित्व है। परन्तु बौद्धों की यह परिभाषा व्यावहारिक स्तर पर ही मान्य है, क्योंकि असंस्कृत धर्मों की सत्ता नित्य मानी जाती है। दूसरी ओर, चेतना विषय को प्रकाशित ही नहीं करती वह स्वयं भी क्रिया में ही प्रसृत होती है, जिसके कारण पदार्थ उस रूप में भासित होते हैं जिस रूप में वे निर्मित किये गए हैं।

सम्पूर्ण घटना-व्यापार, सारी क्रिया, यहाँ तक कि जड़ पदार्थ भी, सभी उस चेतना के आभासन मात्र हैं।<sup>81</sup>

यह वह बिन्दु है जहाँ प्रत्यभिज्ञा और बौद्धमत का भेद खुलकर सामने आता है। प्रत्यभिज्ञा की परम सत्ता केवल चेतन ही नहीं है बल्कि उसका चित् आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया आदि शक्तियों से सम्पन्न भी है। अद्वय चेतना सर्वोच्च है किन्तु सर्जनात्मक और क्रियाशील भी है, जबकि बौद्धमत और वेदान्त में यह सर्वोच्च सत्ता अद्वय होने पर भी इच्छा और क्रिया से परे है। उनकी दृष्टि में यह अनिर्वचनीय पारगामिता है। इसलिए वे विविधता तथा परिवर्तन भरे इस विश्व का कारण अनादि वासना या माया में ढूँढ़ते हैं, जो व्यवहार सत् का निषेध नहीं बल्कि निर्माण करती है।

देखा जाए तो काश्मीर शैवदर्शन, बौद्ध न्याय और न्यायदर्शन के तुलनात्मक अध्ययन में बहुत सम्भावनाएँ हैं। पांडे जैसे विद्वानों की प्रतिभा और व्युत्पत्ति के पारद स्पर्श की यहाँ प्रतीक्षा है। दोनों में कितना विनिमय हुआ है यह कहना कठिन है, पर शैव प्रमाण-शास्त्र और तत्त्व-मीमांसा पर बौद्धों का अकूत प्रभाव पड़ा है। इसका प्रमाण है प्रत्यभिज्ञा-दर्शन द्वारा बौद्ध प्रमाणशास्त्र की पारिभाषिक पदावली का अङ्गीकरण और उसकी सम्प्रदायानुगुण परिभाषा। स्वलक्षणाभास, सामान्यलक्षणाभास, अर्थक्रियासामर्थ्य, तादात्म्य, तदुत्पत्ति, स्वभावहेतु, कार्यहेतु, व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापकभाव, अनुपलब्ध के प्रकार इत्यादि अनेक अवधारणाओं को लिया जा सकता है। वे प्रत्यय भी जो भारतीय दर्शनों में सामान्यतः मान्य हैं, जैसे अनुमान, अर्थक्रिया आदि, उनकी परिभाषा में भी प्रत्यभिज्ञा-दार्शनिकों द्वारा बौद्ध-सम्मत प्रविधि और पद्धति का उपयोग किया गया है।<sup>82</sup> इसी प्रकार विकल्प के लिए अभिनवगुप्त 'अपोह' शब्द का प्रयोग करते हैं और अपोह की परिभाषा में ज्ञानश्री और रत्नकीर्ति के समन्वयवादी मत का अनुवदन करते हैं। रत्नकीर्ति कहते हैं, शब्द का मुख्य अर्थ विधि रूप है पर यह विधि अपोहविशिष्ट है, क्योंकि शब्द बिना अन्यव्यावृत्ति के अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते।<sup>83</sup> अभिनव अपनी ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी में विकल्प की परिभाषा करते हुए ठीक यही बात कहते हैं।<sup>84</sup> इसी प्रकार धर्मकीर्ति की भाँति शैव दार्शनिक भी प्रमाण और प्रमा में भेद न कर व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव को स्वीकार करते हैं। इस प्रसंग में अभिनव प्रमाणवार्तिक को उद्धृत भी करते हैं। पर जहाँ प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में व्यापार प्रमा का प्राण है वहीं क्षणिकवाद की मान्यता के कारण बौद्ध व्यापार को अस्वीकार करते हैं।<sup>85</sup> बौद्ध दर्शन के इतिहास के अनेक अधूरे पन्नों और अध्यायों की पूर्ति के लिए काश्मीर शैवदर्शन के ग्रन्थ अमूल्य स्रोत हैं। बौद्धों के अनेक दार्शनिक उपसम्प्रदायों की चर्चा अभिनव अपनी विवृति-विमर्शिनी में करते हैं। यह भी देखना रोचक होगा<sup>86</sup> कि अभिनव दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के मतभेदों की चर्चा करते हैं, धर्मकीर्ति की विवशता की चर्चा करते हैं और धर्मकीर्ति को प्रामाणिक कहते हुए उनका दिङ्नाग की तुलना में अत्यन्त आदरपूर्वक स्मरण करते हैं।<sup>87</sup>

बौद्ध दर्शन और न्याय दर्शन दोनों भाषा को अपने आप में सत्य का मौलिक स्रोत नहीं मानते। यदि बौद्धों में भाषा एक साथ व्यावहारिक ज्ञान का स्रोत और भ्रान्तिजनक है तो नैयायिकों में उसका रूप केवल सम्प्रेषण का है और उसकी प्रामाणिकता वक्ता या प्रयोक्ता की विश्वसनीयता पर पूरी तरह निर्भर करती है। दूसरी ओर मीमांसक दृष्टि भाषा की सांकेतिक शक्ति को भाषा के स्वरूप में ही निहित मानती है। शब्द नित्य है और उसमें सत्य को व्यक्त करने की मौलिक क्षमता है। इसलिए वेद अनादि रूप से उपलब्ध माने जाते हैं।<sup>88</sup> आगे इसी धारणा का व्याकरण दर्शन और शैवाग्रमों में परिष्कार से हुआ। पारस्परिक मतभेद के बाद भी इनकी दो स्थापनाएँ समान हैं—एक, शब्दों और अर्थों में आवश्यक सम्बन्ध है; दो, प्रत्येक उच्चरित शब्द की पृष्ठभूमि में उसके अनेक सूक्ष्मतर रूप हैं। बौद्ध और नैयायिक के अनुसार शब्द जहाँ अनित्य हैं और केवल संकेतार्थ या मुख्य (रूढ़) अर्थ देते हैं, वहीं मीमांसक, वैयाकरण और काश्मीर शैवों के यहाँ शब्द अपनी अन्तर्निहित अभिव्यंजक शक्ति<sup>89</sup> के साथ नित्य माने जाते हैं।<sup>90</sup> मीमांसक के यहाँ वर्ण और वैयाकरण के यहाँ स्फोट शब्द का नित्य अंश है। वैयाकरणों ने सारे शब्दों और अर्थों के एकमात्र स्रोत के रूप में शब्दब्रह्म की कल्पना की और उसे पश्यन्ती (=द्रष्टा शब्द) से अभिन्न माना। काश्मीर शैवों ने परावाक् का पश्यन्ती से भेद किया और परमशिव की चित्-शक्ति या विमर्श से उसकी एकता प्रतिपादित की।<sup>91</sup> भाषा का अन्तिम मूल अहं-चेतना या चेतना के अहंविमर्श में निहित है जिसके कारण चेतना सर्जनात्मक और अभिव्यंजक बनती है। भाषा की सहज प्रतीकात्मकता न नित्य है, न सांकेतिक, बल्कि अहं-चेतना की अभिव्यंजकता में निहित है। यहाँ हमारा साक्षात् काश्मीर के शैव दार्शनिकों की आधारभूत अन्तर्दृष्टि से होता है। भाषा अपने गम्भीरतम आयाम में सांकेतिक नहीं है अपितु सहज है, चेतना का स्वाभाविक रूप है।<sup>92</sup> विमर्श को वाक् और वाक् को विमर्श कहने का अर्थ है कि भाषा किसी बाह्य, जड़, भूत जगत् का प्रतीक नहीं है बल्कि मानसिक अर्थों की प्रतीक है। यह जगत् वैसा ही है जैसा हम अपने अनुभव को रूपायित करते हैं और अनुभव-निर्माण का आवश्यक संदर्भण अपने से या चेतना से होता है।<sup>93</sup>

पांडे के वाग्विचार की अन्तर्निहित तर्कणा को स्पष्ट करने के लिए कतिपय टिप्पणियाँ उचित होंगी। काश्मीर शैवदर्शन की वाक् की अवधारणा का दूसरे दर्शनों से भेद भाषीय आयाम की अपेक्षा कर्तृत्वमूलक आयाम पर आग्रह के कारण है। 'कहना' (वक्ति) यहाँ 'कहने की क्रिया करना' ('वचनं करोति' या 'वक्तुं शक्नोति') के बराबर है। यह 'करना' या 'क्रिया' प्रमाता का आन्तरिक स्वभाव है जिसका तार्किक पर्यवसान आत्मविमर्श में होता है। इस प्रकार वाक् 'आत्मविमर्शक ज्ञानगत कर्तृता' (आत्मविमर्शनकर्तृता) के रूप में परिघटित होती है।<sup>96</sup> दूसरे, शब्दन का अर्थ यहाँ शब्द न होकर शब्दन-क्रिया है। अभिनवगुप्त आंशिक रूप से भर्तृहरि के मत को आगे बढ़ाते हैं जब वे वाच्य पर वाचक के 'अध्यास' द्वारा सांसारिक व्यवहारों का निष्पादन मान लेते हैं। 'शब्दन-क्रिया' प्रमातृगत स्वातन्त्र्य का अविभाज्य अंग है और सामान्य रूप से विमर्श में या विमर्श द्वारा कही जाती



है। शब्द (वाचक) और शब्दन-क्रिया (अभिधान व्यापार) दो भिन्न पदार्थ हैं जबकि शब्द प्रमेय या ज्ञानात्मक वस्तु है, शब्दन-क्रिया विमर्शात्मक व्यापार है जिसका लक्ष्य शब्द का अर्थ बताना है। यही कारण है कि शब्दार्थ को शब्द-क्रिया के रूप में वर्णित किया जाता है। फलतः शब्द और अर्थ दोनों ही विमर्श स्वभाव सिद्ध होते हैं।

ऊपर की विचार-सरणि के आलोक में पांडे द्वारा प्रस्तुत शैव मीमांसा में आगम को दिये गए असामान्य महत्त्व का कारण समझ में आने लगता है। आगम की सम्भावना ही इसलिए है कि वह स्वयं चरम सत् में अन्तःस्थ किसी सत् की अभिव्यक्ति है।<sup>97</sup> मध्यमा के स्तर पर चेतना की आत्माभिव्यक्ति तर्क या बौद्धिक ज्ञान से मिश्रित हो जाती है। बौद्धों ने बड़े विश्वसनीय ढंग से यह प्रदर्शित कर दिया है कि कल्पना या विकल्प का आधार सत् की संरचना नहीं है।<sup>98</sup> शैवों का तर्क है कि विमर्श और विकल्प में अन्तर है। शैवों की पारिभाषिक शब्दावली में चिद्रूपप्रत्यवमर्श और विकल्परूपप्रत्यवमर्श में भेद है, यद्यपि बौद्धों से भिन्न शैव विकल्पों को भी सत् पर आधृत मानते हैं। अन्तर केवल इतना है कि विकल्प वस्तु के मौलिक स्वरूप से ध्यान बटाकर व्यावहारिक रूप दिखाने लगता है।

अतएव यदि दर्शन आगमविश्रान्त है और आगम यदि वैखरी में परा का अनुवदन या अवतरण है तो मूल आगम और ऐतिहासिक रूप से उपलब्ध आगम के बीच के अन्तराल को समंजस ढंग से कैसे समझाया जाय? उपलब्ध दार्शनिक मत या सिद्धान्त स्पष्टतः ऐतिहासिक रूप से उपलब्ध आगमों से ही सम्बन्ध रखते हैं। ऐसी स्थिति में आगम संशयित हो उठते हैं। शैव इसके लिए सत्तर्क के साधन का उपयोग करते हैं।<sup>99</sup> शैवों के अनुसार सत्तर्क भी विमर्शन की प्रक्रिया का या आगमों की बोध-प्रक्रिया का अंग है : 'अंगीकृतस्तु सत्तर्को योगाङ्गेषु तथापि च'।<sup>100</sup> शाक्तोपाय, जिसका सम्बन्ध चित्त-संबोध या विकल्प-संस्कार या ज्ञान से है, उसमें सत्तर्क का अत्यधिक महत्त्व है। सत्तर्क का अर्थ है-सम्यक् तत्त्वोन्मुख चिन्तन द्वारा सत्य का अवबोध।<sup>101</sup> वेदान्त में भी उच्च कोटि के अधिकारियों के लिए केवल श्रवण मात्र से सत्य के साक्षात्कार की सम्भावना बतायी गई है। इस सत्तर्क को शुद्धविद्या की स्थिति से, जिसका अर्थ है शुद्ध वेदन, समीकृत किया गया है। सत्तर्क ऐतिहासिक, कालिक रूप में प्राप्त आगम और मूल आगम के विच्छेद को दूर कर माहेश्वर विमर्श तक ले जाता है।

शब्द और शब्दन-क्रिया, शब्द और अर्थ के अद्वय को लेकर पांडे कहते हैं "वैदिक साहित्य में जिसे वाक् और मन का, अथवा वाक्-प्राण का मिथुन कहा गया है उसे वैयाकरण शब्द और प्रत्यय का अनुवेध, बौद्ध गण शब्द और विकल्प की अन्यान्यहेतुकता, एवं काश्मीरी शैव आचार्य प्रकाश और विमर्श का तादात्म्य बताते हैं। वाक् को चेतना की अर्थरूप में आत्मप्रकाश की शक्ति कहा जा सकता है।"<sup>102</sup> पांडे इस स्थापना का विस्तार सौन्दर्य शास्त्र तक पाते हैं। उनके अनुसार शिव और शक्ति की इस एकता की भाँति शब्द और अर्थ के इसी अभेद से रस (जो स्वयं में व्यंग्य अर्थ है) के अनन्त संसार की रचना होती है।<sup>103</sup>

सन्दर्भ :

1. प्रोफेसर पांडे के काश्मीर शैवदर्शन सम्बन्धी विचार उनके प्रकाशित ग्रन्थों में संदर्भगत्या बिखरे रूप में मिलते हैं। उस प्रसंग में उनकी *Foundations of Indian Culture* का द्वितीय खण्ड; भारतीय परम्परा के मूल स्वर; साहित्य, सौन्दर्य और संस्कृति और सौन्दर्यदर्शनविमर्श: विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन पुस्तकों में उनके विचार सिद्धान्त विशेष को लेकर साक्षात् रूप से भी उपलब्ध होते हैं और प्रतिपादन के दौरान सामान्य मंतव्यों को लेकर काश्मीर शैव स्रोतों से उद्धरणों के रूप में परोक्षतया भी। इन अपरोक्ष प्रतिपादनों से हमें उनके विचारों की दिशा समझने में सहायता मिलती है। उनके क्रमबद्ध विचारों के लिए हम दो अप्रकाशित स्रोतों का भी उपयोग करेंगे। इसमें प्रथम है "Reflection on Pratyabhijna and Buddhism" जो स्व. प्रो. कान्तिचन्द्र पांडेय की स्मृति को समर्पित "Perspectives on Abhinavagupta" (इन पंक्तियों के लेखक द्वारा सम्पादित) नामक प्रकाशनाधीन स्मृति ग्रन्थ में संकलित है और दूसरा है लखनऊ विश्वविद्यालय के अभिनवगुप्त संस्थान में डॉ. कान्तिचन्द्र पांडेय भाषणमाला (अगस्त 5-7, 1998) के अन्तर्गत "Essential Features of Kashmir Saivism" शीर्षक काश्मीर शैवदर्शन पर दिये गये उनके भाषण के मेरे नोट्स। इसमें पहले लेख का सम्बन्ध है "बौद्ध और वेदान्त दर्शन से उनके घनिष्ठ सम्बन्ध के परिप्रेक्ष्य में काश्मीर शैवदर्शन के दार्शनिक आधारों का समीक्षात्मक विवेचन" और दूसरे का "काश्मीर शैवदर्शन की मुख्य विशेषताएं" से।
2. "Kashmir Saivism represents the most remarkable system of monistic theism." - *Foundations of Indian Culture*, vol. II : Spiritual Vision and Symbolic Form in Ancient India (FIC) New Delhi, 1984, p. 140.
3. "... in its essential theistic monism." *Reflection on Pratyabhijna and Buddhism* (Reflection).
4. "Essential features of Kashmir Saivism" (EFKS), कान्तिचन्द्र पांडेय स्मारक भाषणमाला
5. तर्कस्य कर्तारो व्याख्यातारश्च। - तंत्रालोक 1.10 (तं.) पर जयरथकृत विवेक (तं.वि.), (सं.) रा.च. द्विवेदी और नवजीवन रस्तोगी, भाग 1, दिल्ली 1997, पृ. 30
6. लोकशास्त्रप्रसिद्धानां मतानां यद्विवेचनम्।  
आत्मप्रतीतिसिद्धानामथवा यद्विमर्शनम्।  
सर्वविद्यादृतत्वानां न्यायतत्त्वविमर्शनम्॥ -EFKS
7. किञ्चिदागम्यते तत्त्वमुभयत्रापि सिद्धवत्।  
शैवादिदर्शने तद्धि मुख्येनागम इत्येते॥ -वही
8. Reflection; और भी;  
किं तावत् दर्शनं नाम विद्यायाः शैवसूरभिः।  
दृग्दृष्टिनयसिद्धान्तव्यपदेशीर्विवक्षिता॥ -EFKS
9. Reflection
10. भा.प. मू. स्व., पृ. 30
11. चैतन्यमात्मा। -शि.सू. 1.1 (पांडे द्वारा उद्धृत, भा.प.मू. स्व., पृ. 30)

12. आत्मात एव चैतन्यं चिन्त्रियाचितिकर्तृता।  
तात्पर्येणोदितस्तेन जडात्स हि विलक्षणः॥ —ई.प्र.का. 15.12
13. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। —यो.सू. 1.3 — पांडे द्वारा उद्धृत, भा.प.मू.स्व., पृ. 30
14. ई.प्र.वि. (भा.) 1, पृ. 245
15. द्रष्टा दृशिमात्रः...। —यो.सू. 2.20 (वही, उद्धृत)
16. भा.प.मू. स्व., पृ. 30
17. चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः। —प्र.ह. 1
18. चित्तिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्यसंकोचिनी चित्तम्। —वही, 5। पांडे को प्रत्यभिज्ञाहृदय का यह सूत्र अत्यन्त प्रिय है। इसे वे प्रायः उद्धृत करते हैं। देखिए EFKC; तुलना कीजिए, धम्मपद 1.1: मनोपुब्बंगमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।
19. भा.प.मू. स्व., पृ. 41
20. वही, पृ. 47-48
21. FIC, पृ. 144
22. FIC, पृ. 146
23. भा.प. मू.स्व., पृ. 56
24. वही, पृ. 57
25. इच्छाशक्तिरुमा कुमारी। —शि.सू. 1.13
26. भा.प.मू.स्व., पृ. 57; तुलना कीजिए “स ऐक्षत” इति। “ईक्षणं ह्यत्र तावद् द्वितीयाभावात् स्वविषयमेवेष्टम्, स एव चाहपरामर्शः।” अस्य तु जडत्वेन परामर्शो शक्तत्वं नास्ति। ई.प्र.वि. 1.1.1 पर भास्करी कण्ठ कृत भास्करी, 1, पृ. 14
27. वही, पृ. 125
28. वही, पृ. 21
29. देखिए FIC, पृ. 153-156 : “Smritis, Puranas and Tantras” अध्याय में “Tantric Alchemy” शीर्षक उपनिबन्ध
30. वही, पृ. 154
31. Tantra is the science of Word applied to gain communion with the Divine. —वही
32. सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्।  
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद् बिन्दुसमुद्भवः॥ —शा.ति. 1.7—  
पुष्पिका और राघवभट्ट की परार्थादर्श टीका के आधार पर शारदातिलक आचार्य लक्ष्मणगुप्त की कृति है। परन्तु अनेक विद्वान् इससे असहमत हैं। इस सम्बन्ध में देखिए मेरी Krama Tacticism, भाग 1, दिल्ली, 1979 पृ. 147-149
33. FIC, पृ. 155, 159 (पादटिप्पणी 8)
34. शि.सू. 2.1 (काश्मीरग्रन्थावलि)



35. पांडे का प्रतिपादन टीकाकार क्षेमराज के मन्तव्यों को प्रतिध्वनित करता है : “चेत्यते विमृश्यते अनेन परं तत्त्वम् इति चित्तं”, -तदेव मन्व्यते...इति कृत्वा मन्त्रः। “अथ च मन्त्रदेवताविमर्शपरत्वेन प्राप्ततत्सामस्यम् आराधकचित्तमेव मन्त्रः।” -शि.सू.वि., पृ. 23
36. FIC, पृ. 156, 159 (पादटिप्पणी 9)। देखिए “स्फुरतासारस्पन्दशक्तिमयशङ्करात्मक-स्वस्वभावप्रतिपादनायैव चेदं शास्त्रं समुचितस्पन्दाभिधानं महागुरुभिर्निबद्धम्।...वस्तुतस्तु न किञ्चिदुदेति व्ययते, वा केवलं स्पन्दशक्तिरेव भगवत्प्रक्रमापि तथातथाभासरूपतया स्फुरन्त्युदेतीव व्ययत इव चेति।” -स्पन्दकारिका 1.1 पर क्षेमराज की निर्णय टीका, जयदेवसिंह (अंग्रेजी संस्करण), दिल्ली, 1980, पृ. 6-7
37. एकैव सा महाशक्तिस्तथा सर्वमिदं ततम्। “उद्धृत, EFKS (स्रोत अनुपलब्ध)”; तुलना कीजिए: गुणादिस्पन्दनिष्पन्दा/ सामान्यस्पन्दसंश्रयात्। लब्धात्मलाभाः सततं स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिनः॥ -स्प.का. 1.19
38. “In fact, desire, knowledge and will represent three stages....” FIC, p. 156; यहाँ ‘Action’ की जगह ‘will’ का मुद्रण छापे की गलती जान पड़ती है।
39. FIC, पृ. 156 सं. को.अ. अख्यर और का.च. पांडेय, दिल्ली, 1987, 1
40. EFKS
41. “I bow to that Absolute, which is unity of Paramasiva and Sakti; the Unity, which from its ultimate state, first of all manifests the Pure Ego ‘I’ and then through its will, divides its power into two; the Ultimate State, which, being without any manifestation is self-contained and is responsible for Creation and Dissolution through the play and suspension respectively of its Power.” (Tr. by K.C. Pandey, Bhaskari, vol. 3, p. 1)
42. EFKS यहाँ यह स्पष्ट करना उचित होगा कि शिव, शक्ति, सदाशिव इत्यादि की तत्त्वभाव में कल्पना और शिव-शक्ति की परमतत्त्व के स्वरूपघटक के रूप में परिकल्पना ये दोनों भिन्न हैं। प्रकाश-विमर्श के पर्यायरूप में शिव-शक्ति अधिक मौलिक प्रत्यय है, जैसा आगे स्पष्ट होगा।
43. FIC, पृ. 140
44. वही, पृ. 141
45. वही, पृ. 160
46. तदेवं परत्वेन प्रधानतया अभिसंधाय आत्मा चेतन इति वक्तव्ये धर्मान्तराधरीकरणाय विमर्शधर्मोद्घुटीकरणाय च ‘आत्मा चैतन्यम्’ इति उक्तम्। -ई.प्र.वि., 1, पृ. 258-9
47. साहित्य, सौन्दर्य और संस्कृति (सा.सौ.सं.), गो.च. पांडे, इलाहाबाद, 1994, पृ. 25
48. स्वभावमवभासस्य विमर्श विदुरन्यथा। -ई.प्र.का. 1.5.11
49. सा.सौ.सं., पृ. 26
50. EFKS प्रो. पांडे के वक्तव्य में मानो अभिनवगुप्त का कथन प्रतिच्छायित हो उठा है : “प्रतिभाति घटः इति यद्यपि विषयोपश्लिष्टमेव प्रतिभानं भाति तथापि न तद्विषयस्य स्वकं वपुः, अपितु संवेदनमेव तत् तथा चकास्ति ‘मां प्रति भाति’ इति प्रमातृलभत्वात्।” तथा च वेदः-“तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति’ इति। -ई.प्र.वि., 1, पृ. 349-50
51. EFKS

52. उद्धृत EFKS; भास्करकण्ठ द्वारा उद्धृत, -ई.प्र.वि., 1, पृ. 48
53. EFKS
54. स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति। -प्र.ह. 2
55. निर्मले मुकुरे यद्वत् भान्ति भूमिलतादयः। -मR} अमिश्रास्तद्वदेकस्मिंश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः॥ -तं.आ. 2.4
56. चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद्बहिः।  
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्॥ -ई.प्र.का. 1.5.7
57. डॉ. कान्तिचन्द्र पांडेय स्मारक भाषणमाला, तीसरे दिन का सौन्दर्यशास्त्र परक भाषण
58. यहाँ विचारणीय है-व्याकरण दर्शन में प्रतिभा पश्यन्ती से एक रूप हो सकती है, परन्तु शिवाद्वयवाद में प्रतिभा परास्थानीय है, पश्यन्तीस्थानीय नहीं। प्रतिभा के दो समीकरण मिलते हैं। काव्यशक्ति के रूप में जिस प्रतिभा का ग्रहण होता है वह सदाशिव से ऊपर शक्तितत्त्व से सम्बन्धनीय है। मम्मट ने उसे 'शक्ति' कहा भी है (शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः इति हेतुस्तदुद्भवे)। तन्त्रालोक और परात्रिंशिका में उसे प्रतिभाचमत्कृति कहा गया है। अभिनवगुप्त ध्वन्यालोकलोचन के पहले उद्योत के समापन श्लोक में 'परा' वाक् की 'प्रतिभा' कहकर वन्दना करते हैं  
यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।  
स्वात्मायतनविश्रान्तां वन्दे तां प्रतिभां पराम्॥  
दूसरी प्रतिभा है परम प्रमाता के, महेश्वर के, विश्वमय पक्ष से एकरूप। इस अर्थ में वह सारी सृष्टि और उसकी परम चिह्नप्रता की वाचक है-  
या चैषा प्रतिभा तत्तद्वपार्यर्थक्रमरूपिता।-  
अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः॥ -ई.प्र.का. 1.7.1
59. आणव मल की शास्त्रीय अवधारणा थोड़े भिन्न प्रकार की है। आणव मल का व्यापार तो शुद्ध सृष्टि से प्रारम्भ हो जाता है। शिवतत्त्व के आविर्भाव में भी तिरोधान शक्ति सक्रिय रहती है-विमर्श का निषेध और प्रकाश का उद्रेक, अहंभाव का उद्रेक आदि इदंभाव का निषेध-यही शिवतत्त्व है। तिरोधान-शक्ति और अपोहन-शक्ति यद्यपि आपाततः एक ही अर्थ को देती हैं परन्तु संदर्भ-भेद से। तिरोधान-शक्ति अस्तित्वमूलक शक्ति है और अपोहन ज्ञानमूलक। अस्तित्वगत परिसीमन में तिरोधान और बोधगत परिसीमन में अपोहन की कार्यकारिता है। परन्तु ऊपर वक्तव्य की मूल आत्मा में कोई अन्तर नहीं पड़ता।
60. Reflection
61. EFKS
62. Reflection
63. पारमेश्वरेषु तावदागमेषु शैववैष्णवरहस्येषु च स्पष्टमेवोक्तोऽयमस्मदुक्तोऽर्थः। -ई.प्र.वि.वि. 3, पृ. 405
64. EFKS
65. Reflection
66. ...ब्रह्मवादे मायां शक्तीकृत्य...सिध्यत्येष जनः। -ई.प्र.वि.वि.

67. स्वतन्त्रशब्दो ब्रह्मवादवैलक्षण्यमाचक्षणश्चितो माहेश्वर्यसारतां ब्रूते। —प्र.ह., काश्मीर ग्रन्थावलि, पृ. 5.
68. आत्मन एव सद्भावे ये विप्रतिपन्ना...त एव इह मूलविपक्षाः। —ई.प्र.वि.वि. काश्मीर ग्रन्थावलि, 1, पृ. 112
69. Reflection
70. इत्येवं पञ्चावयवात्मकमिदं शास्त्रं परव्युत्पत्तिफलम्। नैयायिकक्रमस्यैव मायापदे पारमार्थिकत्वम् इति ग्रन्थकाराभिप्रायः 'क्रियासम्बन्धसामान्य' (ई.प्र.का. 2.2.1) इत्यादि उद्देशेषु प्रकटीभविष्यति। —ई.प्र.वि., 1, पृ. 43; और भी देखिए ई.प्र.वि. 2, पृ. 140
71. एकानेकरूपस्य क्रियादेः बाह्यवादे विरुद्धधर्माध्यासदूषणेन अनुपपद्यमानस्याप्यवश्यं समर्थनीयं वपुः। —ई.प्र.वि., 2, पृ. 32, रफेल टोरेला द्वारा "The Pratyabhijna and the logical Epistemological School of Buddhism" (PLSB), Ritual and Speculation, ed. T. Goudriaan, Albany, 1992, पृ. 339
72. Reflection
73. Reflection
74. Reflection
75. Reflection
76. Reflection
77. Reflection
78. Reflection
79. Reflection
80. शिव और शिवतत्त्व में अन्तर है। शिवतत्त्व, विश्वमय शिव, तत्त्व-प्रविभाग में सबसे पहले आता है। परन्तु यहाँ विज्ञानवाद में जो परम तत्त्व की परिकल्पना है वह विज्ञान रूप है, जो शिव या परमशिव से तुलनीय है।
81. प्रत्यभिज्ञादर्शने हि विज्ञानवादवत् प्रकाशाभिन्ना आभासा एव गम्यन्ते। —सौन्दर्यदर्शनविमर्शः, गो.च. पांडे, वाराणसी, पृ. 100
82. PLSB, पृ. 329-330; देखिए अभिनवगुप्त कृत अनुमान की परिभाषा : "अनुमानजा तु प्रतीतिः आभासान्तरात् कार्यरूपात् स्वभावरूपाद्वा आभासान्तरे प्रतिपत्तिः।" —ई.प्र.वि., 2, पृ. 84
83. "नास्माभिरपोहशब्देन विधिरेव केवलोऽभिप्रेतः। नान्यव्यावृत्तिमात्रम्। किन्तु अन्यापोहविशिष्टो विधिः शब्दानामर्थः।" —अपोहसिद्धि, धर्मकीर्तिनिबन्धावलि, सं. अनन्तलाल ठक्कर, पटना, 1957, पृ. 59; देखिए अपोहसिद्धिविमर्श, गो.च.पां., सारनाथ, 1995, पृ. 47
84. "अन्तर्लीनीकृतप्रतियोग्यभावविशिष्टविधिप्रधानवस्तुनिष्ठाः।" —ई.प्र.वि. 1.6.2, पर टोरेला की टिप्पणी, पृ. 130
85. "एवं यतो नीलप्रकाशः ततो नीलमिदम् इति परामर्श इति एकरूपत्वेऽपि हेतुफलभावः, यथोक्तं तद्वशात्तदव्यवस्थानात्...।" (प्र.वा. 3.308) इति। किं च इह व्यापाररूपमेव फलं व्यापारश्च व्याप्तिर्यमाणात् व्यापार्यमाणाद्वा अनन्याकार एवं सिद्ध इति अभेदः प्रमाणफलयोः विमर्शबलेन च। —ई.प्र.वि. 2, पृ. 74-75



86. "By restoring the historical resonances between Helaraja's text and the texts of the two Buddhist philosophers, I hope to illuminate some of the more elliptical aspects of the Prakirnaprakasa and perhaps account, in some measure, for the respect in which Dharmakirti, and not Dignaga, was held by the Kashmiri Saivite schools to which both Helaraja and the great Abhinavagupta belonged." —Bhartrhari and the Buddhists, Radhika Herzberger, Holland, p. 1986, पृ. 12
87. प्रामाणिकोऽप्यार्यधर्मकीर्तिरार्यदिग्रागग्रन्थानुरोधात् तत्पक्षपातादेवम् अभिधत्ते, न पुनरस्य स्वरुचिरेषेति। — उद्धृत, वही, पृ. 3
88. अत एव च नित्यत्वम्। —त्र.सू. 1.3.29, उद्धृत, FIC, पृ. 180
89. 'सांकेतिक शक्ति' के स्थान पर 'अभिव्यञ्जक शक्ति' कहना परम्परा के अधिक अनुकूल और कम भ्रामक होगा। —भा.प.मू.स्व., पृ. 95
90. FIC, पृ. 180-81
91. केचित् पारमेश्वरी विमर्शशक्तिमेव शब्दमूलं वदन्ति तथा च प्रत्यभिज्ञामतम्। — भक्तिदर्शनविमर्शः, गो.च. पांडे, वाराणसी, 1991, पृ. 30, 36; मूल से मिलाइए—  
चित्तिः प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक् स्वरसोदिता।  
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तद्देशवर्थं परमात्मनः॥ —ई.प्र.का. 1.5.13;3
92. प्रत्यवमर्शश्च आन्तराभिलाषात्मकशब्दनस्वभावः, तच्च शब्दनं संकेतनिरपेक्षमेव अविच्छिन्न-चमत्कारात्मकम्...। —ई.प्र.वि., 1, पृ. 252
93. FIC, पृ. 182
94. The life and Death of Language, G.C. Pande, Diogenes, 51, पृ. 193-94
95. FIC, पृ. 182
96. वक्ति विश्वम् अभलपति प्रत्यवमर्शेन इति च वाक्, अतएव सा चिद्रूपतया स्वात्मविश्रान्तिवपुषा उदिता सदानस्तमिता नित्या अहमित्येव। —ई.प्र.वि. 1, पृ. 253-54
97. आगमस्तु नाम आन्तरशब्दनरूपो दृढीयस्तमविमर्शात्मा चित्स्वभावस्य ईश्वरस्य अंतरङ्ग एव व्यापारः प्रत्यक्षादेरपि जीवितकल्पः। —वही, 2, पृ. 84-85; आगमस्त्वपरिच्छिन्नप्रकाशात्मक-माहेश्वरविमर्शपरमार्थः किं न पश्येत्। —वही, पृ. 213
98. EFKS
99. EFKS
100. यह उद्धरण मुझे तन्त्रालोक में नहीं मिला।
101. सतर्कः शुद्धविद्यैव सा चेच्छा परमेशितुः। —तं. 4-34
102. भा.प. मू.स्व., पृ. 95
103. FIC, पृ. 275



